शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

डॉ. पीटर ग्रे

अनुवाद
आशुतोष उपाध्याय

शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

आज के स्कूलों के बारे में समझ बनाने के लिए जरूरी है उनकी ऐतिहासिक पड़ताल

डॉ. पीटर ग्रे
रिसर्च प्रोफेसर, बोस्टन कॉलेज, यूएसए

अनुवाद
आशुतोष उपाध्याय

शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास: लेखक डॉ. पीटर ग्रे
(हिंदी अनुवाद: आशुतोष उपाध्याय)

प्रथम हिंदी संस्करण: 2018

आवरण: Andrzej Krauze, 'द गार्डियन' समाचार पत्र से साभार

आज जब हम देखते हैं कि हर जगह बच्चों को स्कूल भेजना कानूनी बाध्यता है, लगभग सभी स्कूल एक ही ढर्रे पर चलाये जा रहे हैं, और समाज इन स्कूलों को स्थापित करने में अच्छी खासी मशक्कत और खर्चा करते हैं, तो हमारी यह सोच स्वाभाविक है कि इस सब के पीछे कोई नेक और वाजिब वजह जरूर होगी. शायद, अगर हम बच्चों को जबरन स्कूल न भेजें, या फिर स्कूल उस तरह काम न करें जैसे वे करते हैं, तो बच्चे बड़े होकर लायक नहीं बन पाएंगे. शायद कुछ बेहद बुद्धिमान लोगों ने बच्चों को समर्थ बनाने की यह तरकीब खोज निकाली होगी और उसे सही सिद्ध कर दिखाया होगा. या फिर बच्चों के विकास व शिक्षा के वैकल्पिक तरीके व्यावहारिक परीक्षणों में गलत साबित हुए होंगे.

अपने पिछले आलेखों में मैंने इस धारणा के विरुद्ध प्रमाण प्रस्तुत किये थे. ऐसे ही एक आलेख में मैंने सडबरी स्कूल का जिक्र किया था. इस स्कूल में पिछले 40 वर्षों से मुख्यधारा स्कूलों के विपरीत बच्चे खुद अपने आप को शिक्षित कर रहे हैं. स्कूल और इससे निकले हुए विद्यार्थियों पर हुए शोध बताते हैं कि लगभग सभी बच्चे बड़ों के दिशा-निर्देशों और टोका-टोकी के बिना, अपने खेलों तथा खोजों के सहारे अपने आप को शिक्षित करते हैं. और एक बड़े सांस्कृतिक परिवेश के भीतर सम्पूर्ण व प्रभावशाली वयस्क के रूप में

खुद को स्थापित करते हैं. दिशा-निर्देश व टोका-टोकी की जगह यह स्कूल बच्चों को एक समृद्ध वातावरण मुहैया कराता है, जिसमें खेलना, खोजना और लोकतंत्र का स्वाद जैसे तत्वों की भरमार है. मजेदार बात है कि यह सब परंपरागत स्कूल की तुलना में बहुत कम खर्चे और सबको साथ लेकर किया जाता है.

अगर हम यह जानना चाहें कि आज स्कूल जिस तरह दिखाई देते हैं, ऐसे क्यों हैं, तो हमें इस समझ से बाहर निकलना होगा कि वे एक तार्किक जरूरत व वैज्ञानिक सोच का परिणाम हैं. सच कहें तो ये अपने इतिहास की पैदावार हैं. वर्तमान स्कूली शिक्षा प्रणाली का तभी कोई औचित्य समझ में आता है, जब हम इसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में देखते हैं. इसलिए वर्तमान स्कूलों की आलोचना करने से पहले मैं यहाँ संक्षेप में शिक्षा के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहता हूँ- मानव जाति के आरम्भ से आज तक. शैक्षिक इतिहास के अधिकांश विद्वान अपनी बातों को थोड़ा भिन्न शब्दावली में पेश करते हैं. लेकिन मैं समझता हूँ कि मेरी रूपरेखा से वे काफी हद तक सहमत होंगे. सच कहूं तो इस रूपरेखा को तैयार करने में मैंने इन विद्वानों के लेखों का पर्याप्त उपयोग किया है.

शुरुआत में, सैकड़ों हजारों वर्षों तक, बच्चे स्व-निर्देशित खेलों तथा खोज विधियों से खुद को प्रशिक्षित करते रहे.

मनुष्य प्रजाति के जैविक इतिहास की तुलना में स्कूल एकदम नई संस्थाएं हैं. सैकड़ों हजार वर्षों तक खेती के प्रारंभ से पूर्व, हमारे पूर्वज शिकारी संग्राहक थे. अपने पिछले आलेखों में मैंने मानवशास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि घुमंतू संस्कृतियों के बच्चे किस
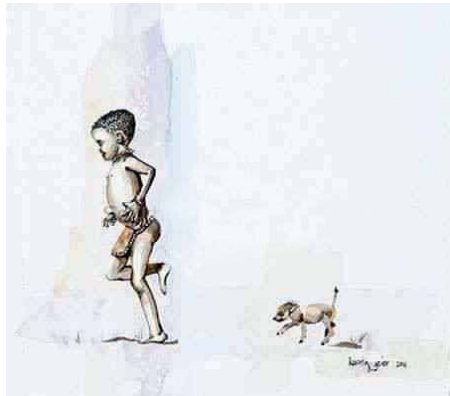
तरह उन चीजों को अपने खेलों और खोजों के जरिये स्वयं सीख लेते थे, जिन्हें एक समर्थ वयस्क बनने के लिए सीखा जाना आवश्यक था. बच्चों में खेलने और खोजने की जबरदस्त इच्छा संभवतः शिकारी संग्राहक समाज के रूप में हमारे विकास की देन है, जो तात्कालिक समाज में शिक्षा की जरूरतों को पूरा करती थी. इन समाजों के वयस्क अपने बच्चों को खेलने और अपने आसपास को खोजने की बेरोकटोक आज़ादी देते थे. वे जानते थे कि बच्चों की स्वाभाविक शिक्षा के लिए ऐसा किया जाना जरूरी है.

खेती और बाद में उद्योगों के आगमन के बाद, बच्चे बलात् मजदूर बनाए जाने लगे. खेलने और खोजने की आज़ादी उनसे छीन ली गयी. मनमर्ज़ी, जो कभी एक गुण मानी जाती थी, अब बुराई में गिनी जाने लगी, जिसका इलाज सिर्फ पिटाई था.

आज से लगभग 10 हजार वर्ष पहले दुनिया के कुछ हिस्सों में खेती की शुरुआत हुई और फिर यह बाकी जगह भी पहुंची. खेती ने लोगों की जीवन शैली को पूरी तरह बदल दिया. शिकारी संग्राहक जीवन शैली, कौशल एवं ज्ञान केन्द्रित थी, श्रम केन्द्रित नहीं. एक प्रभावी शिकारी संग्राहक बनने के लिए लोगों को उन वनस्पतियों व जीव-जंतुओं के बारे में पर्याप्त जानकारी हासिल करनी पड़ती थी, जिन पर वे निर्भर थे. इसके अलावा उनको अपने आवास क्षेत्र की बारीकियों को भी समझना पड़ता था. शिकार व भोजन संग्रह के लिए औजारों को बनाने और इस्तेमाल करने के हुनर में भी महारत हासिल करनी पड़ती थी. भोजन खोजने, उसका पीछा करने तथा इसके लिए पहल करने में क्षमतावान बनना जरूरी था. बेशक उन्हें घंटों तक काम करने या खटने की जरूरत नहीं पड़ती थी, और उनके काम बेहद रोमांचक होते थे, उबाऊ नहीं. मानवशास्त्री बताते हैं कि शिकारी संग्राहक समूह काम और खेल के बीच फर्क नहीं समझते थे. दरअसल उनके लिए पूरा जीवन एक खेल की तरह था.

खेती ने जीवन की पूरी तस्वीर बदल डाली. खेती के जरिए लोग ज़्यादा भोजन पैदा करने लगे, जिससे ज़्यादा बच्चे पैदा करने की छूट मिल गयी. खेती ने लोगों का स्थाई बस्तियों में रह पाना संभव बनाया (या रहने को

मजबूर किया). अब वे इधर उधर घूमने की बजाय अपने खेतों के आसपास रहने लगे. इससे प्रकारांतर में, संपत्ति की व्यवस्था का जन्म हुआ. मगर ये बदलाव मुफ़्त में नहीं मिले, इनके लिए भारी श्रम का मूल्य चुकाना पड़ा. शिकारी संग्राहक जहाँ प्रकृति के उगाये हुए को बड़े कौशल से हासिल करते थे, वहीं किसानों को खेत जोतना, बुआई-निराई करना, फसल काटना और जानवर पालना जैसे अनगिनत श्रमसाध्य काम करने पड़ते थे. खेती की सफलता घंटों के अकुशल व बार बार दोहराए जाने वाले कामों पर निर्भर थी. अधिकतर काम बच्चों से करवाए जाते थे. बड़े परिवारों में बच्चे अपने छोटे भाई बहनों का पेट भरने के लिए खेतों में काम करते थे. उन्हें घर पर छोटे बच्चों की देखभाल भी करनी पड़ती थी. अपनी रुचि का काम करने की आज़ादी न मिलने की वजह से धीरे-धीरे बच्चों का जीवन बदलने लगा. अब उनका ज्यादा समय परिवारिक ज़रूरतों को पूरा करने वाले श्रम में खटता था..

खेती व उससे जुड़े भू-स्वामित्व तथा संपत्ति संग्रह ने इतिहास में पहली बार आदमी-आदमी के बीच हैसियत में फ़र्क पैदा किया. जिन लोगों के पास ज़मीन नहीं थी वे भू-स्वामियों पर निर्भर हो गए. इसके अलावा, जमीदारों को यह भी पता चल गया कि वे दूसरों से अपना काम करवा कर अपनी संपत्ति में इज़ाफा कर सकते हैं. दासप्रथा और गुलामी के कई अन्य रूप सामने आने लगे. सम्पत्तिवान लोग उन पर निर्भर लोगों की मेहनत की बदौलत ज्यादा संपत्ति बटोरने लगे. इन सब के परिणामस्वरूप मध्य युग में सामंतवाद का आगमन हुआ. समाज पूरी तरह से सत्ता-सोपानों में बंट गया. सत्ता सोपान के

शीर्ष पर राजा और उसके दरबारी थे, जबकि दासों और कामगारों की बड़ी आबादी सबसे निचले पायदान पर थी. समाज की बहुसंख्या, जिनमें बच्चे भी शामिल थे, पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ लिए गए. बच्चों के लिए सबसे बड़ा सबक था- आदेश का पालन, अपनी इच्छाओं को काबू में रखना और स्वामियों व सरकार का सदैव आदर करना. विद्रोही विचार रखने वालों के लिए मौत तय थी.

मध्य युग में बच्चों को पीट-पीट कर अपने सामने झुकाने में शक्तिशाली लोगों को जरा भी संकोच नहीं होता था. उदहारण के लिए, 14वीं सदी के उत्तरार्ध या 15वीं सदी की शुरुआत के एक दस्तावेज के मुताबिक एक फ्रांसीसी काउंट ने शाही लड़ाकों को सलाह दी कि वे नौकर रखने के लिए लड़कों को सात-आठ साल की उम्र में ही चुन लें और उन्हें इतना पीटें कि वे मालिक के आदेश को ठुकराने का खयाल तक दिमाग में न लाएं. दस्तावेज आगे सुझाता है कि लड़के से रोजाना क्या-क्या काम लिए जाने चाहिए और रात को उसे शिकारी कुत्तों के बाड़े की छत पर सुलाना चाहिए ताकि वह कुत्तों की आकस्मिक ज़रूरतों को पूरा कर सके.

उद्योगों के उदय तथा एक नए शोषक वर्ग के जन्म के साथ सामंतवाद धीरे-धीरे समाप्त हो गया लेकिन ज्यादातर बच्चों की जिन्दगी से दुखों का अंत नहीं हुआ. नए व्यापारियों को भी पुराने जमींदारों की तरह श्रमिकों की जरूरत थी. और वे कम से कम मेहनताने में ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना चाहते थे. आज हर कोई सामंतवाद के गर्भ से जन्मे शोषण तंत्र को जानता है. दुनिया के अधिकांश भाग पर यह तंत्र आज भी कायम है. लोग, जिनमें बच्चे भी शामिल हैं, जिन्दा रहने की खातिर ज्यादातर वक्त काम करते हैं. हफ्ते में सातों दिन... जानवरों जैसे हालात में. बच्चों को खुले हवादार खेतों की जगह, जहाँ उन्हें कभी कभार खेलने का मौका मिल जाता था, अब अँधेरी, बदबूदार व गन्दी फैक्टरियों में काम करना पड़ता था. इंग्लैंड में गरीब तबकों के ओवरसीयर, कंगाल घरों के बच्चों को फैक्टरियों में ले आते थे, जहाँ उनके साथ गुलामों जैसा बर्ताव होता था. ऐसे हजारों बच्चे हर वर्ष बीमारी, भूख और कमजोरी की वजह से दम तोड़ देते थे. 19वीं सदी में तब तक यह चलता रहा, जब तक इंग्लैंड ने बाल श्रम पर कानून नहीं बना दिया. 1883 में एक नया

कानून बना, जिसके मुताबिक कपड़ा उद्योग में 9 वर्ष से कम उम्र के बच्चे से काम लेने पर पाबन्दी लगा दी गयी. इसके अलावा 10 से 12 वर्ष के बच्चे के लिए अधिकतम साप्ताहिक कार्य अवधि 48 घंटे तथा 13-17 वर्ष के लिए 69 घंटे कर दी गई.

कुल मिलाकर, खेती के आगमन के बाद कई हजार वर्षों के दौरान बच्चों की शिक्षा का अर्थ था- उनकी इच्छाओं को तहस-नहस कर उन्हें अच्छा श्रमिक बनाना. एक अच्छे बच्चे का मतलब था- एक आज्ञाकारी बच्चा, जो खेलने और खोजने की अपनी सहज वृत्ति पर लगाम लगा सके और मालिक के आदेशों का आँख मूँद कर पालन करे. ऐसी शिक्षा, सौभाग्यवश कभी कामयाब नहीं हो पाई. खेलने और खोजने की मानवीय वृत्तियां इतनी जबरदस्त होती हैं कि इन्हें किसी बच्चे के दिलो-दिमाग से रगेदा नहीं जा सकता. मगर इस पूरे युग का शिक्षा दर्शन शिकारी संग्राहक समाजों के सैकड़ों-हजारों वर्षों की समझ के पूरी तरह विपरीत था.

अनेक कारणों से- जिनमें कुछ धार्मिक थे और कुछ धर्म निरपेक्ष, बाध्यकारी सार्विक शिक्षा का विचार धीरे-धीरे फैलने लगा. शिक्षा 'दिमागों में ठूंसने' का पर्याय बन गई.

जैसे-जैसे उद्योगों का विकास होता गया और यह अधिकाधिक स्वचालित होते गए. दुनिया के कई हिस्सों में बाल श्रम की जरूरत घटती चली गई. इसकी जगह यह विचार जगह बनाने लगा कि बचपन सीखने की उम्र है. और इस तरह सीखने की जगह के रूप में स्कूल खड़े किये जाने लगे. सार्विक एवं बाध्यकारी सार्वजानिक शिक्षा का विचार और व्यवहार 16वीं सदी के पूर्वार्ध में यूरोप में जन्मा और 19वीं सदी तक इसका काफी विस्तार हो गया. यह एक ऐसा विचार था, जिसे समाज में कई पैरोकार मिले. बच्चों को कौन से पाठ पढ़ने चाहिए, इसको लेकर भी सबके अपने-अपने एजेंडे थे.

सार्विक शिक्षा के लिए सबसे ज्यादा जोर नए-नए उभरते प्रोटेस्टेंट धर्म ने लगाया. मार्टिन लूथर ने घोषणा की कि किसी व्यक्ति के लिए मुक्ति का मार्ग घर्मग्रंथों को खुद उसके द्वारा पढ़े जाने से ही खुल सकता है. यह सीख लूथर

तक ही खत्म नहीं हो गई. तब की समझ यही थी कि हर आदमी को पढ़ना सीखना चाहिए और यह जानना चाहिए कि अंतिम सत्य धर्मग्रंथों में ही मिल सकता है तथा मुक्ति का मार्ग एकमात्र इस सत्य को जानने में निहित है. लूथर व दूसरे सुधारवादी नेताओं ने सार्वजानिक शिक्षा को ईसाई धार्मिक कर्तव्य बताते हुए जोर दिया कि नर्क की लपटों से अपनी आत्मा को बचाने का यही एक रास्ता है. 17वीं सदी के अंतिम वर्षों तक जर्मनी, जो स्कूलों के विकास में सबसे आगे था, के अधिकतर राज्यों में बच्चों को स्कूल भेजना कानूनन अनिवार्य बना दिया गया. लेकिन इन स्कूलों को सरकार नहीं बल्कि लूथेरियाई चर्च चलाते थे.

अमेरिका में, 17वीं सदी के मध्य में, मैसाचुसेट्स पहला ऐसा राज्य बना जहाँ स्कूली शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी. इसका उद्देश्य घोषित तौर पर बच्चों को धर्मनिष्ठ बनाना था. 1690 की शुरुआत तक मैसाचुसेट्स व इसके आस-पास की कॉलोनियों के बच्चे न्यू इंग्लेंड प्राइमर (जिसे न्यू इंग्लेंड की लिटल बाइबल भी कहा जाता था) पढ़ना सीख चुके थे. इस पुस्तक में अक्षर ज्ञान सिखाने वाले छोटे-छोटे बाल गीत थे, जो कुछ इस तरह से शुरू होते थे- ‘इन एडम्स फाल, वी सिन्ड ऑल.’ और इस तरह खत्म होते थे- ‘जाचेयस ही, डिड क्लाइम्ब ट्री, हिज लॉर्ड टू सी.’ पुस्तक में ईश प्रार्थना, ईसाई धर्म के सिद्धांत, दस धर्मादेश और बच्चों में ईश्वर का डर व बड़ों के प्रति आज्ञाकारिता का जज्बा सिखाने वाले कई पाठ थे.

उद्योगपतियों को आज्ञाकारी कामगार तैयार करने में स्कूल की क्षमता का अंदाजा लगाने में देर नहीं लगी. उनके लिए समय की पाबन्दी, आदेशों का पालन, लंबे समय तक कठिन काम करने का धैर्य और पढ़ने-लिखने की न्यूनतम क्षमता जैसे गुण सबसे जरूरी थे. उनकी नजर में (हालांकि उन्होंने इस तरह इसे कहा नहीं) स्कूल का पाठ जितना उबाऊ हो, उतना अच्छा.

जैसे-जैसे राष्ट्र जुड़ते और ज्यादा से ज्यादा केंद्रीकृत होते गए, राष्ट्रवादी नेता स्कूली शिक्षा को वफादार देशभक्त और भावी सैनिक तैयार करने के माध्यम के रूप में देखने लगे. उनके अनुसार मातृभूमि की महान गाथाएं, हैरतअंगेज उपलब्धियां और देश के संस्थापकों व नेताओं के नैतिक उपदेश

तथा बाहरी दुष्ट ताकतों से देशरक्षा की जरूरत जैसे पाठ बच्चों को अवश्य पढ़ाए जाने चाहिए.

स्कूली इतिहास की इस टेढ़ी-मेढ़ी राह में कुछ ऐसे सुधारक भी आये जिन्हें बच्चों की सचमुच परवाह थी. उनकी बातें आज भी हमारे कानों में गूंजती हैं. इन लोगों ने स्कूलों को एक ऐसी जगह के रूप में चिन्हित किया, जहाँ बच्चों को बाहर की नुकसानदेह आबो-हवा से बचाया जा सकता है और उन्हें एक समर्थ व सक्षम नागरिक के रूप में विकसित होने के लिए आवश्यक नैतिक एवं बौद्धिक आधार दिया जा सकती है. उनके मुताबिक बच्चों को नैतिक पाठ एवं अनुशासन, जैसे- लैटिन व गणित आदि पढ़ाए जाने चाहिए ताकि उनके दिमाग की कसरत हो और वे स्कूल से बुद्धिजीवी बनकर निकलें.

इस तरह हर कोई स्कूल की स्थापना के पक्ष में था और वहां क्या पढ़ाया जाना चाहिए, इस बारे में भी उसका स्पष्ट नजरिया था. ऐसे में जाहिर सी बात है, कोई भी बच्चों को अपना रास्ता खुद बनाने की इजाजत देने को तैयार नहीं था. यहाँ तक कि सीखने के अत्यंत समृद्ध माहौल में भी बड़े वही पढ़ाना चाहते थे, जो उन्हें बच्चों के लिए जरूरी लगता था. वे तयशुदा मूल्यों और तौर-तरीकों को बच्चों के 'दिमाग में बिठाने या रोपने वाली प्रक्रिया' के अर्थ में शिक्षा को देखते थे. तब से आज तक बच्चों के दिमाग में ज्ञान रोपने की बस यही एक-मात्र विधि चलती आ रही है- जबरन दोहराना (रट्टा मारना) और दिमाग में घुसा कि नहीं, यह जांचने के लिए इम्तहान लेना.

स्कूली शिक्षा के विस्तार के साथ लोगों में यह सोच जड़ जमाने लगा कि सीखना बच्चों का काम है. बीते जमाने में बच्चों के साथ खेतों और फैक्टरियों में काम करवाने के लिए की जाने जोर-जबरदस्ती अब स्वाभाविक रूप से कक्षाओं में पहुँच गयी.

पाठों को दोहराना व याद रखना बच्चों के लिए एक कठिन काम था. उनकी सहज वृत्ति उन्हें आजादी से खेलने और दुनिया को स्वयं अपने प्रयासों से खोजने के लिए प्रेरित करती थी. जिस तरह खेतों व फैक्टरियों में काम करने के लिए बच्चे आसानी से तैयार नहीं हुए, स्कूल भेजे जाने का भी उन्होंने

वैसे ही विरोध किया. इस प्रयास में शामिल बड़ों के लिए यह कोई हैरानी की बात नहीं थी. इतिहास के इस मुकाम पर, बच्चों की इच्छा का कोई मतलब होता है, यह बात किसी के दिमाग में भला आती भी कैसे! हर कोई यही सोचता था कि बच्चों को स्कूल भेजने के लिए उनकी मनमर्जी पर सख्ती से लगाम लगानी चाहिए. हर तरह के दंड को शिक्षण प्रक्रिया का हिस्सा समझा जाता था. कुछ स्कूलों में बच्चों के खेलने के लिए अलग से अवकाश (मध्यांतर) की व्यवस्था थी लेकिन खेलों को कभी भी सीखने का माध्यम नहीं समझा जाता था. कक्षा के भीतर तो खेल पढ़ाई का घोषित दुश्मन ही था.

अठाहरवीं सदी के स्कूलों में खेलों के प्रति अधिकारियों का रवैया जॉन वैस्ली के स्कूली नियमों में कुछ इस तरह प्रकट हुआः 'जैसा कि हमारे यहाँ कोई खेल दिवस नहीं होता, हम खेल के लिए न तो कोई समय तय करते हैं न कोई दिन. क्योंकि जो बच्चा खेलता है वह बड़ा होकर भी खेलता रह जाता है.'

किसी जमाने में बच्चों से खेतों व फैक्टरियों में जबरन काम करवाने के लिए बर्बर तरीके उपयोग में लाए जाते थे. वही तरीके स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने के लिए इस्तेमाल होने लगे. कम पगार पाने वाले, कई अप्रशिक्षित शिक्षक तो साफ तौर पर परपीड़क थे. जर्मनी में एक शिक्षक ने अपने 51 वर्ष के कार्यकाल में बच्चों की पिटाई का पूरा रिकॉर्ड रखा, जिसके मुताबिक उसने बच्चों को लोहे की छड़ से 9,11,526 बार, बेंत से 1,24,010 बार, पटरी से

20,989 बार, हाथ से 1,36,715 बार पीटा. 10,235 बार उनका मुंह तोड़ा, 7,905 बार कान पर मुक्के जमाये और 11,18,800 बार उनकी खोपड़ी ठोकी. जाहिर है शिक्षक को उसके द्वारा दी गयी शिक्षा पर गर्व भी होगा.

अठाहरवीं सदी में मैसाचुसेट्स में मंत्री रहे एक जाने-माने शख्स जॉन बर्नाड ने अपनी आत्मकथा में बड़े प्रशंसापूर्वक लिखा है कि उन्हें उनके स्कूल टीचर नियमित रूप से पीटते थे. वह खेलने की अपनी बेलगाम आदत की वजह से मार खाते थे. इसके अलावा जब वह कक्षा में सीख नहीं पाते थे, तब मार खाते थे. इतना ही नहीं, वह तब भी पिटते थे जब उनके सहपाठी सीखने में नाकामयाब हो जाते थे. क्योंकि वह पढ़ाई में अव्वल थे, इसलिए उन पर औरों को सिखाने की भी जिम्मेदारी डाली गयी थी. इसलिए जब भी कोई सहपाठी जवाब नहीं देता था, बर्नाड साहब को मार खानी पड़ती थी. लेकिन उन्हें इस पिटाई से कोई शिकायत नहीं थी, शिकायत थी तो अपने उस शरारती सहपाठी से, जो उन्हें पिटवाने के लिए जान बूझकर सवाल का जवाब नहीं देता था. उन्होंने इस समस्या का भी तोड़ निकाल लिया. एक दिन स्कूल से बाद उन्होंने इस सहपाठी की जमकर तुड़ाई की और साथ में यह हिदायत भी दी कि भविष्य में उसकी वजह से उन्हें पिटना पड़ा तो उसकी खैर नहीं. वे शानदार पुराने दिन...!

हाल के दिनों में स्कूली पढ़ाई के तौर-तरीके काफी हद तक बदल गए हैं. लेकिन उनके पीछे का बुनियादी विचार नहीं बदला है. सीखना, आज भी बच्चों का ही काम समझा जाता है और बच्चों से यह काम करवाने के लिए सख्त तौर-तरीके अब भी इस्तेमाल होते हैं.

19वीं और 20वीं सदी में सार्वजानिक शिक्षा उस दिशा की ओर बढ़ी, जैसी आज हम इसे पाते हैं. अनुशासन के तौर-तरीके अधिक मानवीय होते गए. काफी हद तक पिटाई स्कूलों से गायब हो गयी. पाठ्यसामग्री पहले से ज्यादा धर्मनिरपेक्ष हो गयी. ज्ञान के विस्तार के साथ-साथ पाठ्यक्रम का विस्तार होता गया. विषयों की सूची लगातार लंबी होती चली गयी. इसके अलावा स्कूल के घंटों, दिनों और बाध्यकारी स्कूली वर्षों में भी इजाफा होता चला गया. खेत, फैक्टरी या घर में करवाए जाने वाले काम की जगह अब

स्कूल ने ले ली. पढ़ाई करना बच्चे का प्राथमिक काम बन गया. जिस तरह बड़े रोज 8 घंटे अपने रोजगार की जगह जाते हैं, ठीक उसी तरह आज बच्चों को भी रोजाना 6 घंटे स्कूल में बिताने पड़ते हैं. इसके बाद वे एक घंटा या कुछ ज्यादा समय होमवर्क में लगाते हैं और इससे कहीं ज्यादा स्कूल से बाहर ट्यूशन पढ़ने में. समय के साथ-साथ बच्चों का जीवन स्कूली पाठ्यक्रम से अधिकाधिक परिभाषित और नियंत्रित होता चला गया है. पूरी दुनिया में आज बच्चों की पहचान उनकी स्कूली कक्षा से की जाने लगी है. ठीक उसी तरह जैसे बड़ों की पहचान उनकी नौकरी या करियर से होती है.

स्कूल आज पहले जैसे कठोर नहीं रहे, लेकिन सीखने के बारे में कुछ प्रस्थापनाएँ आज भी जस की तस हैं. मसलन-सीखना एक कठिन काम है, जिसे बच्चों से पूरी सख्ती से करवाया जाना चाहिए. बच्चों को अपनी मर्जी से तय की गई गतिविधियों से कुदरतन शिक्षा नहीं मिलती. इसके लिए उन्हें अनुशासित ढंग से पढ़ाना चाहिए. निर्धारित पाठ जिन्हें पढ़ना बच्चे के लिए जरूरी है, वे पेशेवर शिक्षाविदों द्वारा ही तैयार किये जाने चाहिए, खुद बच्चों द्वारा नहीं. इसलिए देखा जाय तो शिक्षा आज भी 'दिमाग में ठूंसने' जैसी ही चीज है (हालांकि शिक्षाविद आज इस शब्द को इस्तेमाल करने से परहेज करते हैं और इसके जगह 'डिस्कवरी' जैसे शब्द बोलते हैं).

अपने पाठों को बच्चों के लिए आनंददाई बनाने के लिए आज के चतुर शिक्षाविद 'खेल' को एक हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं. स्कूलों में बच्चों को इंटरवल के नाम पर कुछ खाली समय भी दिया जाता है (हालांकि हाल के वर्षों में इसमें कटौती भी हुई है). मगर बच्चों के खुद के खेलों को शिक्षा की बुनियाद के रूप में अब भी पूरी तरह अपर्याप्त समझा जाता है. बच्चे, जिनमें खेलने की ख्वाहिश इतनी जबरदस्त होती है कि वे खामोश नहीं बैठ सकते, आज पीटे नहीं जाते, लेकिन अब उनका इलाज किया जाता है.

आज स्कूल ऐसी जगह है जहाँ बच्चे उन चीजों के बीच फर्क करना सीखते थे, जिन्हें शिकारी संग्राहक कभी नहीं जान पाए- काम और खेल के बीच फर्क. शिक्षक बच्चों से कहते हैं, 'पहले काम पूरा करो, इसके बाद तुम्हें खेलने की इजाजत मिलेगी.' इस सन्देश से स्पष्ट है कि काम, जिसमें स्कूल की समूची पढ़ाई शामिल है, ऐसी चीज है, जिसे कोई बच्चा पसंद नहीं करता लेकिन उसे करना पड़ता है. और खेल, जिसे हर बच्चा पसंद करता है, समय की बर्बादी समझा जाता है. हमारे स्कूली तौर-तरीकों का यही सबसे अहम पाठ है. अगर बच्चे स्कूल में कुछ भी नहीं सीखते, तो भी उन्हें काम व खेल के बीच फर्क समझ में आ जाता है और वे जानते हैं कि पढ़ना काम होता है, खेलना नहीं.

इस आलेख में मैंने यह समझाने का प्रयास किया है कि मानव इतिहास ने किस तरह स्कूलों को आज का स्वरूप प्रदान किया. अपने अगले आलेख में मैं यह जानने का प्रयास करूंगा कि स्कूलों को सुधारने के आधुनिक प्रयास बुनियादी तौर पर क्यों अप्रभावी साबित हुए.

* * *